RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18, अंक-3, जून जुलाई अगस्त 2025

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18 अंक - 3 जून-जुलाई-अगस्त-2025

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

भारतीय ज्ञान सम्पदा में प्राचीनकाल में औद्योगिक एवं तकनीकी शिक्षा

डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

प्राचीनकाल में औद्योगिकी एवं तकनीकी शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त समृद्ध और सुव्यवस्थित था। भारतवर्ष में विविध विज्ञानों, उद्योगों, शिल्पों, व्यवसायों और कलाओं का न केवल विकास हुआ, बल्कि उनके व्यवस्थित प्रशिक्षण की भी सुदृढ़ व्यवस्था थी। समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप व्यावसायिक शिक्षा को महत्त्व दिया जाता था और विभिन्न विषयों की शिक्षा विशिष्ट शिक्षणालयों, आश्रमों तथा गुरुकुलों में प्रदान की जाती थी। चिकित्साविज्ञान, सैन्यविज्ञान, व्यापार, उद्योग, वास्तु, शिल्प तथा ललित कलाओं की शिक्षा उस समय के शिक्षातंत्र का अभिन्न अंग थी।

प्राचीन भारत विभिन्न विज्ञानों, उद्योगों, कलाओं और व्यवसायों में अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। उपलब्ध प्राचीन साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि उस युग में चिकित्साविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, प्राणिविज्ञान, भौतिकी, गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों ने उल्लेखनीय प्रगति की थी। आयुर्वेद, शल्यचिकित्सा तथा औषध निर्माण की परंपरा अत्यधिक विकसित थी। साथ ही, कृषि, धातुकर्म, वस्त्र निर्माण, काष्ठकला और कुम्हार शिल्प जैसे कुटीर उद्योगों में निर्मित वस्तुएँ न केवल देश में, बल्कि विदेशों में भी निर्यात की जाती थीं और वहाँ अत्यन्त लोकप्रिय थीं। इससे यह सिद्ध होता है कि उत्पादन तकनीक और गुणवत्ता दोनों ही उच्च स्तर की थीं।

सैन्य क्षेत्र में भी तकनीकी ज्ञान का व्यापक विकास हुआ था। भारतीय सेनाओं ने विस्तृत साम्राज्यों का निर्माण किया, जिसके लिए युद्धकला, अस्त्र-शस्त्र निर्माण, दुर्ग निर्माण तथा रणनीति का विशेष प्रशिक्षण दिया जाता था। गृहनिर्माण, नगर-योजना, मूर्तिकला और चित्रकला के अत्यन्त विकसित रूप के प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं, जो उस समय की तकनीकी दक्षता और सौंदर्यबोध को दर्शाते हैं।

महाभारत में पांडवों द्वारा निर्मित राजधानी इन्द्रप्रस्थ का वर्णन तत्कालीन स्थापत्य और तकनीकी उन्नति का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। मय दानव द्वारा निर्मित भव्य प्रासादों का गौरवपूर्ण विवरण मिलता है, जिनमें उन्नत निर्माण तकनीक, सौंदर्य और उपयोगिता का अद्भुत समन्वय था। ग्रंथों में यातायात के विविध साधनों का भी उल्लेख मिलता है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि परिवहन तकनीक का भी पर्याप्त विकास हो चुका था।

इन विज्ञानों, विद्याओं और कलाओं के प्रशिक्षण का निश्चित और सुनियोजित प्रबन्ध था। यद्यपि

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

प्राचीन ग्रंथों में औद्योगिक और तकनीकी शिक्षा का अत्यधिक विस्तृत वर्णन नहीं मिलता, तथापि अनेक संकेत ऐसे हैं जो उस समय की शिक्षा-व्यवस्था की उन्नत अवस्था को स्पष्ट करते हैं। विभिन्न विषयों की शिक्षा के लिए विभिन्न केन्द्र प्रसिद्ध थे। महाभारत के अनुसार परशुराम का आश्रम सैन्यविज्ञान की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था, जहाँ भीष्म ने शिक्षा प्राप्त की और कर्ण ने धनुर्विद्या का अध्ययन किया। इसी प्रकार जीवक नामक महान चिकित्सक ने तक्षशिला में आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की थी, जिससे तक्षशिला के चिकित्सा-शिक्षा केन्द्र होने का प्रमाण मिलता है। वाराणसी ज्योतिष विद्या का उत्कृष्ट केन्द्र थी, जहाँ इस विषय का गहन अध्ययन और अनुसंधान होता था।

आयुर्वेद शिक्षा :

प्राचीन भारत में आयुर्वेद शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त व्यापक, अनुशासित और नैतिक मूल्यों से युक्त था। वैदिक साहित्य के अध्ययन के समान ही आयुर्वेद के अध्ययन को भी ऋषियों ने विशेष महत्त्व प्रदान किया था। आयुर्वेद को उपवेद की संज्ञा दी गई और इसे मानव जीवन के संरक्षण तथा आरोग्य का मूल विज्ञान माना गया। परंपरा के अनुसार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के उपवेद क्रमशः आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद माने गए, यद्यपि सुश्रुत ने अथर्ववेद को आयुर्वेद का उपवेद स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद का संबंध केवल चिकित्सा से नहीं, बल्कि समग्र जीवन-दृष्टि से था।

भारत में औषधिविज्ञान अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक वाङ्मय तथा उत्तरवर्ती साहित्य से यह ज्ञात होता है कि आयुर्वेद की शिक्षा-पद्धति, उसके नियम और आचार-संहिता सुव्यवस्थित थे। वैदिक काल के पश्चात् चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, भेडसंहिता, कश्यप संहिता, अष्टाङ्गहृदय, अष्टाङ्गसंग्रह और भावप्रकाश जैसे संहिता ग्रंथों की रचना हुई। इन ग्रंथों में आयुर्वेद को आठ अंगों में विभक्त करके इसे पूर्णता प्रदान करने का प्रयास किया गया। इन ग्रंथों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ईसा के उद्भव से पूर्व ही भारत में आयुर्वेद का पूर्ण विकास हो चुका था और उसी के साथ आयुर्वेद शिक्षा की सुदृढ़ परंपरा भी स्थापित हो गई थी।

आयुर्वेद शिक्षा के उद्देश्य अत्यन्त उदात्त थे। प्राचीन मनीषियों के अनुसार मानव जीवन के चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—तभी संभव हैं जब शरीर स्वस्थ हो। रोग इन सभी पुरुषार्थों का विनाश करते हैं, इसलिए आरोग्य को जीवन का मूल माना गया। इसी कारण आयुर्वेद का अध्ययन केवल रोग-निवारण तक सीमित न होकर स्वस्थ जीवन के संरक्षण और दीर्घायु की प्राप्ति का साधन माना गया।

आयुर्वेद की शिक्षा में प्रवेश के लिए विशेष उपनयन संस्कार का विधान था। इस संस्कार से पूर्व आचार्य यह परखता था कि शिष्य मानसिक, शारीरिक और नैतिक दृष्टि से शिक्षा के योग्य है या नहीं। शिष्य का स्वस्थ शरीर, संतुलित अंग-रचना, नैतिक साहस, विनम्रता, धैर्य, सहिष्णुता, अध्ययनशीलता और मन-वचन-कर्म की पवित्रता आवश्यक मानी जाती थी। उपनयन के समय वैदिक विधियों के अनुसार यज्ञ, देवताओं का आवाहन तथा धन्वन्तरि, भरद्वाज और आत्रेय जैसे आयुर्वेदाचार्यों का स्मरण किया जाता था। शिष्य को तत्काल स्वीकार नहीं किया जाता था, बल्कि लगभग छह मास की परिवीक्षा अवधि में उसकी योग्यता की परीक्षा ली जाती थी।

आयुर्वेद शिक्षा में नैतिक अनुशासन का अत्यधिक महत्त्व था। उपनयन के पश्चात् अग्नि को

साक्षी मानकर शिष्य से प्रतिज्ञा कराई जाती थी। विद्यार्थी को विलासिता, लोभ, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या और असत्य से दूर रहने का आदेश दिया जाता था। स्वच्छता, संयमित जीवन, विनय और करुणा को अनिवार्य माना गया। गुरु, द्विज, दुर्बल, अतिथि और अनाथ की नि:शुल्क चिकित्सा करना चिकित्सक का कर्तव्य था। इस प्रकार आयुर्वेद शिक्षा केवल व्यावसायिक नहीं, बल्कि सेवा और मानवता पर आधारित थी।

वर्णाधिकार के संदर्भ में आयुर्वेद का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत उदार था। इसके अध्ययन का अधिकार सभी वर्णों को दिया गया था, यद्यपि उपनयन और मंत्रोच्चार के विषय में वर्णानुसार नियम निर्धारित थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि चिकित्सा-विद्या को समाजोपयोगी मानते हुए व्यापक वर्ग तक पहुँचाने का प्रयास किया गया।

प्राचीन आचार्यों ने चिकित्सक की उच्च योग्यता निर्धारित की थी। चिकित्सक को शास्त्रज्ञान, व्यावहारिक दक्षता, शल्यकर्म में प्रवीणता, नैतिक आचरण, करुणा और सत्यनिष्ठा से युक्त होना चाहिए। चरक संहिता में चिकित्सक के गुणों का विस्तार से वर्णन मिलता है, जिनमें रोग-निदान, उपचार, औषधि-ज्ञान, विवेक और मानवता प्रमुख हैं। चिकित्सा की सफलता के लिए चिकित्सक, औषधि, परिचारक और रोगी—इन चारों का गुणवान होना आवश्यक माना गया।

आयुर्वेद शिक्षा में हेतु, लिंग और औषधज्ञान—इन तीन स्कन्धों का विशेष महत्त्व था। इसके अंतर्गत रोगों के कारणों का ज्ञान, लक्षणों की पहचान और औषधियों के गुण-दोष का विवेचन किया जाता था। शिक्षा की पद्धति गुरु-शिष्य परंपरा पर आधारित थी, जिसमें श्लोकों का अध्ययन, स्मरण, व्याख्या, प्रयोग और निरंतर अभ्यास शामिल था।

आयुर्वेद को अष्टाङ्ग कहा गया है, जिसमें शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र, रसायन और वाजीकरण सम्मिलित हैं। इन शाखाओं के माध्यम से मानव जीवन के प्रत्येक आयाम—शरीर, मन, समाज और दीर्घायु—का उपचार और संरक्षण किया जाता था।

आयुर्वेद शिक्षा में अध्ययन-अवकाश, शिक्षा-अवधि और परीक्षा की भी परंपरा थी। यद्यपि अध्ययन की कोई निश्चित अवधि नहीं थी, फिर भी जातक कथाओं से ज्ञात होता है कि जीवक ने तक्षशिला में सात वर्ष तक अध्ययन किया था। परीक्षा आचार्य द्वारा ली जाती थी और योग्यता सिद्ध होने पर ही चिकित्सा-कार्य की अनुमति दी जाती थी।

शिक्षा की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार के समय आचार्य द्वारा दिया गया उपदेश आयुर्वेदिक जीवन-दृष्टि का सार प्रस्तुत करता है। इसमें ब्रह्मचर्य, संयम, सेवा, करुणा, विनय, गोपनीयता और निरंतर अध्ययन पर बल दिया गया है। इस प्रकार प्राचीन भारत की आयुर्वेद शिक्षा न केवल वैज्ञानिक और तकनीकी थी, बल्कि उच्च नैतिकता, मानव-कल्याण और सामाजिक उत्तरदायित्व से भी पूर्ण रूप से संपृक्त थी।

पशु चिकित्सा :

प्राचीन भारत में जिस प्रकार विविध विज्ञानों का विकास हुआ, उसी प्रकार पशु चिकित्सा अथवा पशुविज्ञान का भी समुचित और सुव्यवस्थित विकास देखने को मिलता है। पशु मानव जीवन, कृषि, परिवहन और युद्ध—सभी में अत्यन्त उपयोगी थे, इसलिए उनके संरक्षण, पालन-पोषण और उपचार के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता स्वाभाविक थी। इसी आवश्यकता के कारण भारतीय शिक्षण परंपरा में पशुविज्ञान का

अध्ययन भी कराया जाता था। इस विद्या को प्राचीन ग्रंथों में 'पशुसमाम्नाय' कहा गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह एक स्वतंत्र और मान्य विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित थी।

भारतीय सेनाओं में अश्वों और गजों का अत्यधिक महत्त्व था। युद्ध, यात्राओं और राज्य-व्यवस्था में इन पशुओं की भूमिका निर्णायक होती थी। अत: अश्वविज्ञान, गजविज्ञान और अन्य पालतू तथा उपयोगी पशुओं के स्वरूप, गुण, स्वभाव, प्रशिक्षण और रोगों के उपचार का व्यवस्थित ज्ञान दिया जाता था। युद्धोपयोगी पशुओं की कार्यक्षमता बनाए रखने के लिए उनके आहार, व्यायाम, देखभाल और चिकित्सा पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

पशुविज्ञान के इतिहास में शालिहोत्र का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उन्हें पशुविज्ञान का प्रथम आचार्य कहा गया है। अश्वविद्या के क्षेत्र में राजा नल का विशेष स्थान था, जिन्हें इस विद्या का महान् पण्डित माना गया है। महाभारत काल में भी पशुविज्ञान की उच्च स्थिति स्पष्ट दिखाई देती है। पांडवों में नकुल को अश्वविज्ञान का विशेषज्ञ और सहदेव को गोविज्ञान का ज्ञाता कहा गया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि राजकुमारों और योद्धाओं को भी पशुविज्ञान का विधिवत् प्रशिक्षण दिया जाता था।

मौर्य सम्राट अशोक के काल में पशु चिकित्सा की राज्यस्तरीय व्यवस्था देखने को मिलती है। अशोक ने सम्पूर्ण भारतवर्ष में पशुचिकित्सालयों की स्थापना करवाई थी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय पशुचिकित्सकों की संख्या पर्याप्त थी और पशुओं के उपचार की समुचित व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती थी। यह तथ्य पशुविज्ञान की उन्नत अवस्था का सशक्त प्रमाण है।

प्राचीन काल में पशुविज्ञान और पशुचिकित्सा से संबंधित अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना हुई। पालिकाप्य का 'हस्त्यायुर्वेद' गजचिकित्सा का प्रमुख ग्रंथ माना जाता है। नारायण का 'मातंगलीला' भी हाथियों के पालन और चिकित्सा पर आधारित प्रसिद्ध ग्रंथ है। अश्वचिकित्सा के क्षेत्र में शालिहोत्र का 'अश्वशास्त्र', जयदत्त और दीपंकर के 'अश्ववैद्यक', नकुल का 'अश्व-चिकित्सा' तथा भोज का 'शालिहोत्र' ग्रंथ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथों में पशुओं के रोगों, उनके कारणों, लक्षणों और उपचार की विस्तृत चर्चा मिलती है।

प्राचीन समाज में पशुओं की संख्या बहुत अधिक थी और जनसामान्य में पशुपालन की प्रवृत्ति व्यापक थी। पशुधन को समृद्धि और संपन्नता का प्रतीक माना जाता था। साहित्यकारों और आचार्यों में भी पशुओं के प्रति गहरा भावनात्मक लगाव दिखाई देता है। पशुओं के रोगों की चिकित्सा, संरक्षण और संवर्धन के लिए उचित प्रबंध किए जाते थे।

धनुर्वेद शिक्षा :

प्राचीन भारत में धनुर्वेद की शिक्षा का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था, क्योंकि उस समय विभिन्न जनपदों, राज्यों और जातियों के मध्य युद्ध प्राय: होते रहते थे। ऐसी परिस्थितियों में सैन्य शिक्षा केवल शासक वर्ग तक सीमित न रहकर समाज की एक अनिवार्य आवश्यकता बन गई थी। अनेक जातियाँ योद्धा जातियों के रूप में प्रसिद्ध थीं और शासक वर्ग के साथ-साथ सामान्य प्रजाजन भी किसी न किसी स्तर पर युद्धकला और आत्मरक्षा की शिक्षा ग्रहण करते थे। वैदिक वाङ्मय में आर्यों और आर्येतरों के बीच तथा स्वयं आर्य राजाओं के बीच निरन्तर युद्धों के उल्लेख मिलते हैं, जो उस युग के सैन्य वातावरण को स्पष्ट

करते हैं।

आर्य धार्मिक-सांस्कृतिक परंपरा में देवताओं को भी महान योद्धाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, अग्नि, वरुण, मरुत् और अश्विनी जैसे देवता अपने विशिष्ट आयुधों के लिए प्रसिद्ध थे और उन्हें दुष्टों के संहारक तथा सज्जनों के रक्षक के रूप में माना जाता था। इससे यह धारणा पुष्ट होती है कि युद्ध और शस्त्र-विद्या को धर्म और समाज-रक्षा से जोड़ा गया था। सामान्य जन भी अपनी, अपने समाज और देश की रक्षा के लिए शस्त्रों के संचालन की शिक्षा प्राप्त करते थे। परंपरा के अनुसार भगवान शिव को धनुर्वेद का प्रथम आचार्य माना गया है। मध्य हिमालय में उनका शिक्षा-केन्द्र बताया गया है, जहाँ कार्तिकेय और परशुराम जैसे प्रसिद्ध शिष्यों को उन्होंने धनुर्विद्या का उपदेश दिया।

आर्य परंपरा में सेना का संगठन अत्यन्त व्यवस्थित था। सैन्य विभाजन प्राय: रथसेना, अश्वसेना, गजसेना और पदातिसेना के रूप में किया जाता था, जिसे चतुरंगिणी सेना कहा गया। जलीय क्षेत्रों में नौसेना का भी गठन किया जाता था। इसलिए धनुर्वेद की शिक्षा केवल शस्त्र-अस्त्रों के प्रयोग तक सीमित नहीं थी, बल्कि रथारोहण, अश्वारोहण, गजारोहण और नौका-संचालन जैसी व्यावहारिक शिक्षाएँ भी इसमें सम्मिलित थीं। सेनानायकों को सेना के संचालन, अनुशासन और रणनीतिक व्यवस्था की विशेष शिक्षा दी जाती थी। प्राचीन साहित्य में विभिन्न प्रकार के सैन्य व्यूहों का वर्णन मिलता है, जो तत्कालीन सैन्य-रणनीति की उन्नत अवस्था को दर्शाता है।

राज्य द्वारा संगठित रूप से सैनिकों की भर्ती की जाती थी और उन्हें अनुशासित सैन्य प्रशिक्षण दिया जाता था। सैनिकों को विविध आयुधों के संचालन, अभियानों के संचालन, शत्रु की किलेबंदी तोड़ने तथा युद्धकौशल की शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य का था, फिर भी प्रत्येक नागरिक से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह स्वयं भी अपनी रक्षा करने में सक्षम हो। चाणक्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि प्रत्येक ग्रामवासी को आत्मरक्षा के योग्य होना चाहिए। यवन इतिहासकारों के विवरणों से भी ज्ञात होता है कि भारत के ग्रामों और नगरों के निवासी सामान्यत: शस्त्रसज्जित रहते थे और विदेशी आक्रमणकारियों को अनेक स्थानों पर स्थानीय जनता के सशस्त्र प्रतिरोध का सामना करना पड़ा।

प्राचीन भारत में सैन्य शिक्षा के लिए विशेष शिक्षण संस्थानों का अस्तित्व भी मिलता है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों में सैन्य विद्यालयों के संकेत उपलब्ध हैं। गुरुकुलों में सामान्य शिक्षा के साथ-साथ सैन्य शिक्षा का भी प्रबंध किया जाता था। राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ने वसिष्ठ के गुरुकुल में सैन्य शिक्षा प्राप्त की थी। महर्षि विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण को विशिष्ट आयुधों का प्रयोग सिखाया। परशुराम का सैन्य विद्यालय महेन्द्र पर्वत पर प्रसिद्ध था, जहाँ उन्होंने अनेक महान योद्धाओं को शिक्षा दी। महाभारत के अनुसार कर्ण ने ब्राह्मण का वेश धारण कर परशुराम से शिक्षा प्राप्त की थी और भीष्म भी उनके शिष्य थे। द्रोणाचार्य अपने समय के श्रेष्ठ सैन्य शिक्षक माने जाते थे।

राजकुमारों की शिक्षा के लिए पृथक् सैन्य विद्यालयों की स्थापना के उल्लेख भी मिलते हैं। कौरवों और पांडवों की सैन्य शिक्षा के लिए भीष्म ने हस्तिनापुर के बाहर गंगा तट पर एक विशाल सैन्य विद्यालय स्थापित कराया था, जहाँ कृपाचार्य और बाद में द्रोणाचार्य प्रधान शिक्षक रहे। बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' में राजकुमारों की सैन्य शिक्षा के लिए स्थापित विद्यामंदिर का विस्तृत वर्णन किया है, जहाँ चन्द्रापीड ने राजनीति, व्यायाम और विविध आयुधों के प्रयोग में दक्षता प्राप्त की।

तक्षशिला विश्वविद्यालय प्राचीन काल में सैन्य शिक्षा का एक महान केन्द्र था। यहाँ दूर-दूर से राजकुमार, ब्राह्मण और क्षत्रिय युवक सैन्यविज्ञान की शिक्षा ग्रहण करने आते थे। जातक साहित्य में उल्लेख है कि यहाँ सैकड़ों राजकुमार गजचर्या, रथचर्या, अश्वारोहण और विविध आयुधों की शिक्षा प्राप्त करते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य ने भी तक्षशिला में ही सैन्यविज्ञान और राजनीति का अध्ययन किया था।

सैन्य शिक्षा से संबंधित उपनयन और समावर्तन संस्कारों का भी उल्लेख मिलता है। यद्यपि धनुर्वेद के लिए पृथक् उपनयन संस्कार का प्रचलन संदिग्ध माना गया है, फिर भी सैन्य शिक्षा की समाप्ति पर 'छुरिकाबंधन' नामक समावर्तन संस्कार का वर्णन मिलता है। इस अवसर पर आचार्य शिष्यों की शस्त्र-संचालन क्षमता का सार्वजनिक प्रदर्शन कराते थे। महाभारत में द्रोणाचार्य द्वारा कौरवों और पांडवों की युद्धकला के प्रदर्शन का भव्य वर्णन मिलता है।

शिल्प शिक्षा :

प्राचीन भारत में शिल्पों की शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त विकसित, व्यवस्थित और व्यवहारिक था। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य के साथ-साथ विविध शिल्पों, उद्योगों और कलाओं का व्यापक विकास हुआ था। ये शिल्प प्रायः गृह-उद्योगों के रूप में संचालित होते थे और काष्ठ, मिट्टी, पत्थर, धातु आदि प्राकृतिक पदार्थों से जनोपयोगी वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। इन वस्तुओं की देश-विदेश में अत्यधिक माँग थी और उनका निर्यात भी किया जाता था, जिससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय शिल्प तकनीकी दृष्टि से उन्नत और गुणवत्ता में श्रेष्ठ थे।

'शिल्प' शब्द की व्युत्पत्ति 'शील समाधौ' धातु से मानी जाती है, जिसका आशय है—विविध पदार्थों को विशेष विधि से संयोजित कर एक नवीन और उपयोगी वस्तु की रचना करना। प्राचीन दृष्टि में शिल्प केवल हस्तकौशल नहीं था, बल्कि एक वैज्ञानिक प्रक्रिया थी, जिसमें बुद्धिमान शिल्पी अपनी सूझ-बूझ और अनुभव से विभिन्न पदार्थों का मिश्रण, रूपांतरण और ढलाई करके नवीन वस्तुओं का निर्माण करता था। इस प्रकार शिल्प विज्ञान, तकनीक और कला—तीनों का समन्वय था।

प्राचीन शास्त्रकारों ने शिल्प को स्पष्ट रूप से एक विज्ञान माना है। स्वर्ण, रजत तथा अन्य धातुओं को विभिन्न आकृतियों में ढालकर आभूषण, उपकरण और उपयोगी वस्तुएँ बनाना शिल्प के अंतर्गत आता था। इसमें केवल धातु-कला ही नहीं, बल्कि नृत्य, गीत, वाद्य, स्थापत्य और मूर्तिकला जैसी कलाओं का भी समावेश हो जाता था। शिल्प की शिक्षा गुरु के सान्निध्य में रहकर दी जाती थी और प्रत्यक्ष अभ्यास को विशेष महत्त्व प्राप्त था।

प्राचीन भारतीय समाज में शिल्पियों को उच्च सम्मान प्राप्त था। वैदिक काल में राजा के बारह रत्नियों में रथकार जैसे शिल्पी की गणना होती थी। राज्याभिषेक के समय राजा स्वयं शिल्पियों का सम्मान करता था। वैदिक साहित्य में 'ऋभु' नामक शिल्पी-देवताओं का उल्लेख मिलता है, जिन्हें अपने असाधारण हस्तकौशल के कारण देवत्व प्राप्त हुआ। यद्यपि उत्तरवर्ती काल में सामाजिक परिवर्तन के कारण शिल्पकारों की स्थिति में कुछ ह्रास हुआ, फिर भी उनके कौशल और उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता।

प्राचीन भारत में विविध प्रकार के शिल्प प्रचलित थे। आयुध निर्माण, पुल और भवन निर्माण, रथ-निर्माण, वस्त्र-रचना, कुम्हार-कला, धातु-कला, आभूषण-निर्माण, चित्रकला, नृत्य-संगीत और वाद्य-

निर्माण जैसे अनेक शिल्प विकसित अवस्था में थे। समाज में कुलाल, कर्मार, कुम्भकार, लोहकार, हिरण्यकार, रथकार, सूत, मणिकार, चित्रकार, नर्तक, गायक, वाद्यकार आदि अनेक वर्गों के शिल्पी विद्यमान थे, जो अपने-अपने क्षेत्र में दक्ष माने जाते थे।

शिल्प शिक्षा में प्रवेश के लिए भी निश्चित नियम थे। नारदस्मृति के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी शिल्प को सीखना चाहता था, तो वह अपने बंधुओं की अनुमति लेकर आचार्य के पास जाता था। शिक्षा की अवधि पहले से निर्धारित होती थी और शिष्य को आचार्य के घर पर रहकर ही प्रशिक्षण लेना पड़ता था। आचार्य का दायित्व था कि वह शिष्य को भोजन और निवास की व्यवस्था नि:शुल्क प्रदान करे और पुत्र के समान उसका पालन-पोषण करे। शिष्य को अनुचित कार्यों में नहीं लगाया जा सकता था और न ही उसे दास या बंधुआ मजदूर की तरह रखा जाता था।

गुरु-शिष्य संबंध अत्यन्त दृढ़ और अनुशासित था। यदि आचार्य ठीक प्रकार से शिक्षा दे रहा हो, तो शिष्य को निर्धारित अवधि से पूर्व उसे छोड़ने का अधिकार नहीं था। शिक्षा पूरी होने पर भी शिष्य को निश्चित अवधि तक आचार्य के साथ रहना होता था। शिक्षा की समाप्ति पर शिष्य गुरु से अनुमति लेकर लौटता था और यथाशक्ति गुरु-दक्षिणा देकर सम्मान प्रकट करता था। यदि दोनों की सहमति हो, तो शिष्य वेतन लेकर आचार्य के साथ कार्य भी कर सकता था।

इस प्रकार शिल्प शिक्षा की प्रशिक्षण-पद्धति अत्यन्त लाभकारी थी। प्रशिक्षार्थी को अन्तेवासी कहा जाता था, जो गुरु के घर पर रहकर निरन्तर अभ्यास करता था। गुरु द्वारा उसकी निरंतर देख-रेख की जाती थी और त्रुटियों का तत्काल सुधार किया जाता था। गुरु और शिष्य के बीच पिता-पुत्र जैसा स्नेहपूर्ण संबंध होता था, जिससे शिष्य सम्पूर्ण विद्या और कौशल को आत्मसात कर कुशल शिल्पी बनता था।

प्राचीन काल में शिल्पियों के संघ भी विद्यमान थे, जिन्हें 'श्रेणी' कहा जाता था। ये श्रेणियाँ अपने-अपने शिल्प के लिए नियम निर्धारित करती थीं और कभी-कभी सामूहिक रूप से शिल्प शिक्षा की व्यवस्था भी करती थीं। बौद्ध साहित्य और स्मृति ग्रंथों में कृषक, पशुपालक, व्यापारी, कलाकार, चित्रकार, नर्तक, गायक, सैनिक आदि अनेक शिल्प-श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में शिल्पों की शिक्षा न केवल व्यक्तिगत स्तर पर, बल्कि संगठित सामाजिक ढाँचे के अंतर्गत भी विकसित थी।

व्यापार शिक्षा :

प्राचीन भारत में व्यापार की शिक्षा का स्वरूप देश की आर्थिक संरचना और व्यापक व्यापारिक गतिविधियों से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। अर्थोपार्जन के प्रमुख साधनों में कृषि और पशुपालन के साथ वाणिज्य एवं उद्योग का महत्वपूर्ण स्थान माना गया था। आर्य समाज में व्यापार केवल देश के भीतर ही सीमित नहीं था, बल्कि दूर-दूर के देशों के साथ आयात-निर्यात का सुव्यवस्थित तंत्र विद्यमान था। जलमार्गों और स्थलमार्गों के माध्यम से भारतीय व्यापारी पश्चिमी और पूर्वी देशों तक जाते थे। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारत का विदेशी व्यापार अत्यन्त समृद्ध था, जिसके प्रमाण प्राचीन साहित्य, अभिलेखों और यात्रावृत्तों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

व्यापार के इस व्यापक विस्तार के कारण व्यापारिक शिक्षा का महत्व स्वाभाविक रूप से बढ़ गया

था। मनु, याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों तथा कौटिल्य जैसे शास्त्रकारों ने व्यापार और व्यापारिक शिक्षा से संबंधित अनेक नियमों का निर्धारण किया। व्यापार के विभिन्न क्षेत्रों का ज्ञान, किन वस्तुओं का व्यापार किया जाना चाहिए, कौन-से मार्ग आवागमन के लिए उपयुक्त हैं, वस्तुओं की उपलब्धता और मूल्य निर्धारण की विधियाँ—इन सभी विषयों की शिक्षा व्यापारी को दी जाती थी। एक कुशल व्यापारी को यह समझना आवश्यक था कि कौन-सी वस्तु किस क्षेत्र में अल्प मूल्य पर उपलब्ध है और उसे किस स्थान पर अधिक मूल्य पर सुविधापूर्वक विक्रय किया जा सकता है।

व्यापारिक शिक्षा में वस्तुओं के गुण-दोष की पहचान और उचित क्रय-विक्रय मूल्य का ज्ञान विशेष महत्व रखता था। व्यापारी को तौल-माप, मूल्य-निर्धारण और लाभ-हानि के आकलन में दक्ष होना आवश्यक माना जाता था। इसके साथ ही प्राचीन काल की बैंकिंग पद्धतियों—जैसे ऋण, उधार, साहूकारी और लेखा-जोखा—का ज्ञान भी व्यापारी के लिए आवश्यक था। दूरस्थ व्यापार के लिए विभिन्न देशों की मुद्रा-प्रणालियों की जानकारी अनिवार्य मानी जाती थी, जिससे लेन-देन में सुविधा हो।

विदेशी व्यापार के संदर्भ में व्यापारी को केवल आर्थिक ज्ञान ही नहीं, बल्कि विभिन्न देशों की भाषाओं, परम्पराओं और सामाजिक रीति-रिवाजों का भी ज्ञान होना चाहिए था। इससे व्यापारिक संबंधों को सुदृढ़ बनाने और परस्पर विश्वास स्थापित करने में सहायता मिलती थी। इस प्रकार व्यापार की शिक्षा बहुआयामी थी, जिसमें आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक तत्वों का समावेश था।

प्राचीन भारत में व्यापार और उद्योग कालान्तर में जातिगत और वर्णगत रूप ले चुके थे। व्यापार का कार्य प्रायः वैश्य वर्ग द्वारा किया जाता था। व्यापारियों के अपने संघ और श्रेणियाँ थीं, जो व्यापार के संचालन, नियंत्रण और प्रशिक्षण में भूमिका निभाती थीं। इन संघों द्वारा व्यापारिक शिक्षा के लिए संस्थागत प्रबंध किए जाने के संकेत भी मिलते हैं। तथापि व्यापार की सामान्य शिक्षा का प्रमुख आधार परिवार और कुल-परम्परा ही थी।

व्यापारी परिवारों में बालकों को बचपन से ही व्यापारिक कार्यों में सम्मिलित कर दिया जाता था। अनुभवी और वृद्ध व्यापारी अपने अनुभव के आधार पर अगली पीढ़ी को व्यापार की बारीकियाँ सिखाते थे। यदि किसी परिवार में ऐसे अनुभवी सदस्य उपलब्ध न हों, तो बालकों को किसी परिचित व्यापारी परिवार में भेजकर प्रशिक्षण दिलाया जाता था। इस प्रकार व्यापारिक शिक्षा मुख्यतः व्यवहारिक, अनुभवजन्य और परम्परागत थी।

प्राचीन काल में आज के समान पृथक् और औपचारिक व्यापारिक शिक्षणालयों की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई, क्योंकि व्यापारिक ज्ञान प्रत्यक्ष अभ्यास और जीवनानुभव के माध्यम से प्राप्त किया जाता था। यही कारण है कि प्राचीन भारत के व्यापारी दूरस्थ देशों तक सफलतापूर्वक व्यापार करने में सक्षम थे और भारत विश्व के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में से एक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

चौंसठ कलायें :

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति में चौंसठ कलाओं की शिक्षा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इन कलाओं का उद्देश्य केवल मनोरंजन या सौन्दर्यबोध का विकास नहीं था, बल्कि मानव जीवन के समस्त व्यावहारिक पक्षों को परिष्कृत करना था। कलाओं की सूची और उनके स्वरूप पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होता है कि उस युग में जीवन से संबंधित लगभग सभी विषयों को कला के अंतर्गत समाहित कर लिया

गया था। कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, उद्योग, शिल्प, युद्ध, गृहस्थी, सामाजिक व्यवहार और बौद्धिक अभिव्यक्ति—सभी का समन्वय चौंसठ कलाओं में दिखाई देता है।

प्राचीन ग्रंथों में कलाओं का व्यापक उल्लेख मिलता है। रामायण, महाभारत, भागवतपुराण और अन्य पुराणों में कलाओं को सभ्य और सुसंस्कृत जीवन का आधार माना गया है। कामसूत्र में चौंसठ कलाओं का व्यवस्थित वर्णन मिलता है, जहाँ इन्हें नागरिक जीवन की अनिवार्य योग्यताओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ललितविस्तर, शुक्रनीति तथा अन्य धार्मिक-नैतिक ग्रंथों में भी कलाओं की चर्चा है। संस्कृत के वैयाकरणिक, दार्शनिक और कथा-साहित्य—जैसे महाभाष्य, दशकुमारचरित, कादम्बरी, जातकमाला, कल्पसूत्र, उपनिषद्, सूत्रग्रंथ, समवायसूत्र और प्रश्नव्याकरणसूत्र—में कलाओं के विविध रूपों का उल्लेख मिलता है। कालिदास, माघ, भवभूति, श्रीहर्ष और भारवि जैसे महाकवियों ने भी अपने काव्य में कलाओं का सुंदर चित्रण किया है, जिससे उनके सामाजिक महत्व का बोध होता है।

कलाओं की संख्या सामान्यत: चौंसठ मानी जाती है, किंतु यह संख्या सर्वत्र समान नहीं है। विभिन्न परंपराओं और ग्रंथों में इसमें भिन्नता दिखाई देती है। जैन साहित्य में कलाओं की संख्या बहत्तर मानी गई है, जबकि ललितविस्तर में छियासी कलाओं का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कला की अवधारणा समय और संदर्भ के अनुसार विस्तृत होती रही है।

चौंसठ कलाओं में गायन, वादन, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, अलंकरण, काव्य-रचना, नाट्य, वास्तु, रथ-निर्माण, शस्त्र-विद्या, कृषि-कौशल, पशुपालन, व्यापारिक गणना, लेखन, संदेश-प्रेषण, वस्त्र-रचना, आभूषण-निर्माण, इत्र-निर्माण, पाक-विद्या, गृह-व्यवस्था, खेलकूद और सामाजिक व्यवहार से जुड़ी अनेक विधाएँ सम्मिलित थीं। इस प्रकार कला का अर्थ केवल ललित कलाओं तक सीमित न होकर व्यावहारिक जीवन-कौशल तक विस्तृत था।

इन कलाओं की शिक्षा का प्रबंध प्राचीन भारत में अवश्य रहा होगा। राजकुमारों, कुलीन युवकों और नगरों में रहने वाले नागरिकों को इन कलाओं का प्रशिक्षण दिया जाता था, जिससे उनका व्यक्तित्व सर्वांगीण विकसित हो सके। कलाओं की शिक्षा से व्यक्ति में सृजनशीलता, सौंदर्यबोध, व्यवहार-कुशलता और आत्मविश्वास का विकास होता था।

उपरोक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति अत्यन्त व्यापक, व्यावहारिक और जीवनोपयोगी थी। शिक्षा केवल धार्मिक या सैद्धान्तिक ज्ञान तक सीमित नहीं थी, बल्कि उद्योग, तकनीक, चिकित्सा, पशुचिकित्सा, सैन्यविद्या, शिल्प, व्यापार और कलाओं तक विस्तृत थी। आयुर्वेद, पशुविज्ञान और धनुर्वेद जैसी विशिष्ट विद्याओं के लिए सुव्यवस्थित प्रशिक्षण, नैतिक अनुशासन और व्यावहारिक अभ्यास की परंपरा विकसित हो चुकी थी। शिल्पों और व्यापार की शिक्षा गुरु-शिष्य परंपरा, पारिवारिक परंपरा और श्रेणियों के माध्यम से दी जाती थी, जिससे कौशल और अनुभव पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रहता था। चौंसठ कलाओं की अवधारणा इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य मानव जीवन के सभी पक्षों—आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक—का समन्वित विकास करना था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति सर्वांगीण व्यक्तित्व निर्माण पर आधारित थी और अपने समय की सामाजिक, आर्थिक तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं को प्रभावी ढंग से पूरा करती थी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *चारक, चरकसंहिता, संपादक: पी.वी. शर्मा, चौखम्बा ओरिएंटालिया, वाराणसी, 1981*
2. *सुश्रुत, सुश्रुतसंहिता, संपादक: पी.वी. शर्मा, चौखम्बा ओरिएंटालिया, वाराणसी, 1999*
3. *वाग्भट्ट, अष्टांगहृदय संहिता, संपादक: श्री कांतामूर्ति, चौखम्बा ओरिएंटालिया, वाराणसी, 1991*
4. *वात्स्यायन, कामसूत्र, चौखम्बा/मोतीलाल बनारसीदास, भारत, 2003/2011*
5. *महाभारत, संस्कृत मूल संहिता, आधुनिक संस्कृत संस्करण: चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1980, 2010*
6. *रामायण, वाल्मीकि संस्कृत संस्करण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1980, 2010*
7. *भागवतपुराण, संस्कृत मूल, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 2000*
8. *शुक्रनीतिसार, संपादक: श्रीकांत शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2005*
9. *कौटिल्य, अर्थशास्त्र, संपादक: रामकुमार शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2010*
10. *बाणभट्ट, कादंबरी, संपादक: रामेश्वर शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1995*
11. *वसिष्ठ, धर्मसूत्र, संपादक: डॉ. ए.के. शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 2000*
12. *वीरमित्रोदय, संपादक: डॉ. भीमराव शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1998*
13. *देवणभट्ट, विवादरत्नाकर, संपादक: डॉ. हरीश शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 2002*
14. *नारदस्मृति, संपादक: डॉ. गोपाल शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 2000*